दिसंबर १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आत्म-कथन

नये जीवन के चालीस वर्ष

सन १९५५, १ से १० सितंबर, जीवन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण दस दिवस। बड़ा भाग्य जागा। किसी महान पूर्व-पुण्य का अनमोल फलपका।जीवन में पहले कभी कल्पना भी नहीं की थी, ऐसा पावन अवसर अनायास हाथ लग गया। कारुण्यमूर्ति गृहस्थ संत सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर अपने भीतर सत्य का साक्षात्कार करने की पावन विद्या सीखी। मां विपश्यना की कल्याणी कोख से एक नया जन्म हुआ। ३१-३२ वर्ष पूर्व अपनी जननी की कोख से जो पहला जन्म हुआ था अब उसका यह दूसरा संस्करण था। मैं सही माने में द्विज हुआ। यह दूसरा जन्म ही सार्थक जन्म था। जैसे अपनी मां के पेट से पक्षी का पहला जन्म एक अंडे की खोल से ढका हुआ होता है, वैसे ही मेरा पहला जन्म गहन अविद्या की खोल से आवृत्त था। पक्षी का दूसरा जन्म ही वास्तविक जन्म होता है, जब वह अंडे की खोल तोड़ कर एक चूजे के रूप में बाहर निकलता है। अंडे के भीतर का अंधकार मां के गर्भ के भीतर के अंधकार से कम नहीं होता। अविद्या के खोल का अंधकार तो और गहन होता है। अंडे की खोल तोड़ कर जब चूजा बाहर निकलता है तब उसे पहले-पहल प्रकाश दीखता है जिससे कि वह चकाचौंध होता है। इसी प्रकार घोर अविद्या के अंधकार का खोल टूटने पर जो विद्या के सही आलोक की प्रथम झलक दीखी, उससे मैं भी चकाचौंध हुआ।

अपने भीतर की जिस सच्चाई का कभी रंचमात्र भी बोध नहीं हुआ था; दस ही दिनों में उसका कितना स्पष्ट अनुभव हुआ! सदा घनीभूत और ठोस लगने वाले इस मृण्मय भौतिक शरीर का अणु-अणु प्रकंपित हो उठा, सजीव हो उठा, चिन्मय हो उठा। इससे भी बड़ी उपलब्धि यह हुई कि शरीर और चित्त के पारस्परिक संबंधों की गहन अनुभूति द्वारा मनोविकारों के प्रजनन, संवर्धन और संचयन के स्वभाव-शिकंजे की गिरफ्त टूटने लगी। मनोविकारों के उत्खनन और निष्कासन की एक सहज वैज्ञानिक विधि हाथ लग गयी।

ध्यानक्षेत्र की विभिन्न उपलब्धियों और उनके महिमा-मंडित महत्त्व के बारे में जो कुछ पढ़ा था, सुना था, अब उनमें से अधिकांश का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। यह देख कर हृदय गद्गद हो उठा और उन गृहस्थ संत, गुरुदेव ऊ बा खिन के प्रति कृतज्ञता-विभोर हो उठा। घर लौट कर गृही और सामाजिक उत्तरदायित्व का अत्यंत व्यस्त जीवन जीते हुए भी सुबह और शाम विपश्यना के अविच्छिन्न अभ्यास में लग गया और देखा कि इससे जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आने लगा। तब गुरुदेव के प्रति यह कृतज्ञता अनायास ही गहन से गहनतर होती चली गयी।

विपश्यना जीवन में उतरने लगी। काम-क्रोध और अहंकार की अग्नि में सतत धधकते रहने वाला मानस अभूतपूर्व अध्यात्मिक शांति और शीतलता महसूस करने लगा। पारिवारिक, व्यापारिक और विभिन्न सामाजिक जिम्मेदारियों के कारण सदा तनाव से भरा रहने वाला रोगी मानस अब सुखद स्वस्थता का धनी बन गया। विपश्यना ने मुझे अपनी लौकिक जिम्मेदारियों से दूर नहीं भगाया। उन्हें अनासक्त भाव से पूरा कर सकने की स्वस्थ ऊर्जा प्रदान की। इससे काम करने की क्षमता बढ़ी। बचपन से ही गहन भावावेशमयी भक्ति में आकंठ डूबा हुआ, विह्वल हो, सजल नयन, अवरुद्ध कंठ और कातर स्वर में अपने उपास्यदेव से वर्षों की गयी याचना और प्रार्थना जिन्हें नहीं निकाल सकी; युवावस्था में अनेक वर्षों तक शास्त्रों के गंभीर अध्ययन की ज्ञान-गरिमा जिनका उन्मूलन नहीं कर सकी, वे अंतःशायी मनोविकार इस सहज-सरल साधना-विधि द्वारा प्रहीण होने लगे, जड़ से उखड़ने लगे। यह देख कर हृदय परम धन्यता से भर उठा।

बचपन से ही सुनता आया था कि हमारे परिवार के उपास्यदेव भगवान श्रीकृष्ण ने बुद्ध के रूप में किसी विशेष मकसद से अवतार लिया था। वे असुरों को या यों कहें, आसुरी प्रवृत्ति वाले लोगों को ऐसी मायाविनी शिक्षा देने आये थे, जिससे कि वे सद्गति से वंचित रह कर शीघ्र से शीघ्र अधोगति को प्राप्त हों। मानस पर इस प्रबल प्रचार का बहुत मोटा लेप लगा हुआ था। अतः बचपन से ही मानता आया था कि भगवान बुद्ध तो हमारे ईश्वर के नवें अवतार हैं और अब तक के क्रमशः अधिकाधिक गुणवंत अवतारों में अंतिम होने के कारण सर्वाधिक उन्नत और सर्वगुणसंपन्न अवतार हैं, अतः परम पूज्य हैं। परंतु उनकी शिक्षा मायाविनी है। अपने जैसे आस्तिकों के लिए उपयोगी नहीं है। इसी मोटे लेप के कारण विपश्यना के पहले शिविर में सम्मिलित होते हुए मुझे कुछ झिझक हुई थी।

यद्यपि यह भी पढ़ता-सुनता आया था कि बुद्ध करुणासागर थे। बचपन में ही देवदत्त द्वारा किसी हंस को तीर मारने और उनके द्वारा करुणापूर्वक उस पक्षी को बचा लेने की घटना भी पढ़ी थी। साथ-साथ यह भी एक प्रश्न मन में था ही कि यदि उनकी शिक्षा गलत थी तो संसार के इतने लोगों ने उसे क्यों अपनाया? इसके अतिरिक्त मेरे सामने ये ब्रह्मदेश के निवासी थे जो इतने भले, इतने सरल, इतने निष्कपट और इतने शीलवान थे। यदि बुद्ध की शिक्षा में खोट होती तो उस शिक्षा के ये अनुयायी इतने सज्जन कैसे होते?

दूसरी ओर इन सारे तर्कों को दुर्बल बनाने वाले अंधमान्यताओं के वे लेप थे जो बचपन से ही मन पर लगे थे। मेरे पिताजी के व्यावसायिक प्रतिष्ठान में एक प्रमुख कर्मचारी थे मेरे बहनोई श्री महादेवजी नाथानी। वे उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे। उनका पुत्र यानी मेरा भांजा ही मुझसे उम्र में बड़ा था। महादेवजी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उनका शास्त्रीय अध्ययन बहुत विशद था और "शास्त्र-वचन प्रमाण" यही उनका बड़े से बड़ा तर्क हुआ करता था। वे बहुत कर्मकांडी थे। नित्य चार-पांच घंटे पूजा-पाठ में बिताते थे। वे रोज रुद्री का सस्वर पाठ करते थे जो कि बड़ा प्रभावशाली लगता था। मैं उनका बड़ा आभार मानता हूं क्योंकि

उन्होंने मुझे कम उम्र में ही गीता के अतिरिक्त विष्णु सहस्रनाम, गोपाल सहस्रनाम, शिव महिम्न स्तोत्र और शिव तांडव स्तोत्र का सस्वर पाठ करने की प्रेरणा दी थी। नित्य प्रातः ये पाठ करने में मुझे बहुत आनंद आता था। इन पाठों की स्वर लहरियां देर तक मेरे मानस में गुंजायमान रहती थीं। विष्णु, कृष्ण और शिव की भक्ति में सारा परिवार सराबोर था। इन पैत्रिक संस्कारों को ये पाठ बहुत बल प्रदान करते थे।

महादेवजी बहुत कट्टरपंथी थे। वे बुद्ध का तो इतना नहीं परंतु बुद्ध की शिक्षा का घोर विरोध करते थे। मैं बचपन से ही अपने पितामह के साथ बहुधा मांडले के प्रसिद्ध महामुनि (बुद्ध) मंदिर में जाया करता था। वहां जाने पर बड़ी शांति महसूस होती थी। महादेवजी ने मुझे अनेक बार कहा कि बूढ़े बाबा तो सठिया गये हैं। तुम अभी बच्चे हो। तुम्हें गलत रास्ते जाने से बचना चाहिए। परंतु बाबा के स्वर्गवासी होने के बाद भी मैं बहुधा उस मंदिर में चले जाया करता था। मैं देखता था, अपने यहां मंदिरों में इतना कोलाहल होता है और साथ-साथ इतनी ही गंदगी। इसके मुकाबले बुद्ध-मंदिर की शांति और स्वच्छता मन को बरबस खैंच लेती थी। उन दिनों ध्यान के बारे में तो कुछ नहीं जानता था पर वहां जाते ही मन बहुत शांत हो जाता था। इसका एक बड़ा आकर्षण था।

महादेवजी मुझे समझाते रहते थे कि वहां बार-बार जाने में इस बात का खतरा है कि मैं कहीं उनकी गलत शिक्षा के फेर में न पड़ जाऊं। वे शास्त्र की दुहाई देकर कहते थे कि यदि तुम किसी संकड़ी गली में से गुजर रहे हो और सामने से कोई क्रुद्ध मतवाला हाथी आ रहा हो, मानो साक्षात मौत ही तुम्हें कुचलने के लिए आ रही हो और तुम देखो कि तुम्हारे बायीं ओर एक जैन मंदिर है जिसका दरवाजा खुला है और दाहिनी ओर बुद्ध मंदिर है जिसका दरवाजा खुला है तो ऐसी अवस्था में हाथी से कुचला जाकर मर जाना श्रेयस्कर है, परंतु किसी जैन या बुद्ध मंदिर में जाकर अपनी जान बचा लेना उचित नहीं है। क्योंकि इन दोनों मंदिरों के दरवाजे वस्तुतः नरक के दरवाजे हैं। नरक के दरवाजे इस माने में कि वहां जाते-जाते कभी उनकी शिक्षा के फेर में पड़ जाओगे तो परिणाम नरक-गमन का ही होगा। उन्होंने ही यह बात भी बार-बार समझायी कि बुद्ध ईश्वर के अवतार थे पर अवतरित इसलिए ही हुए थे कि इंद्र का इंद्रासन बचाने के लिए गलत शिक्षा देकर असुरों को शीघ्र से शीघ्र नरक भेजा जाय। मैं जब कभी प्रश्न कर लेता कि ईश्वर किसी को धोखा देने के लिए क्यों जन्म लेते हैं? तो कहते कि यह ईश्वर की लीला है। हम अपनी क्षुद्र बुद्धि से कभी नहीं समझ पायेंगे। वही जानते हैं कि कौन-सा काम कब और कैसे करना चाहिए। तब तक सौभाग्य से आर्यसमाज के संपर्क में आ जाने के कारण महर्षि दयानंदजी सरस्वती के विचारों से भी बहुत कुछ प्रभावित हो गया था और बुद्धिवादी भी। अतः यह बात जरा भी बुद्धिसंगत तो नहीं ही लगती थी, परंतु ईश्वर के प्रति इतनी गहरी आस्था थी कि आगे बात न बढ़ा कर मौन रह जाया करता था।

मुझे याद है। मैंने उनसे एक बार पूछ लिया था कि उनकी शिक्षा इतनी दूषित है तो ये इतने सारे बरमें (बर्मी लोग) क्यों उसका पालन करते हैं? इस पर उन्होंने पुनः किसी शास्त्र का हवाला देकर कहा कि हमारे अमुक धर्माचार्य ने कहा है कि बुद्ध की शिक्षा अच्छी है पर ग्रहण करने योग्य नहीं है, वैसे ही जैसे कि चमड़े की जूती में भरा गया गाय का शुद्ध दूध पीने लायक नहीं रहता। आगे जाकर यह भी सुना कि जो पालि-प्राकृत भाषा का उपयोग करता है वह निर्वंश हो जाता है। जो अपने घर में बुद्ध की मूर्ति रखता है वह निर्धन हो जाता है। ये सारी बातें युक्तिसंगत तो कभी नहीं लगीं, परंतु परम आस्तिक मन में यह एक भय की ग्रंथि अवश्य बँध गयी कि बुद्ध की शिक्षा में कहीं न कहीं, कोई न कोई दोष अवश्य है। अन्यथा हमारे ऋषियों को और उनके लिखे शास्त्रों को क्या पड़ी थी कि वे बुद्ध की शिक्षा को इस कदर निंदित करते। यही एकमात्र कारण था कि विपश्यना के शिविर में सम्मिलित होने से झिझक रहा था।

परंतु पूज्य गुरुदेव से मिलने पर, उनकी विपुल मैत्री और करुणा के संसर्ग में आने पर और उनके द्वारा समझायी साधना सर्वथा निर्दोष प्रतीत होने पर अंततः शिविर में सम्मिलित हो ही गया। पहले ही शिविर में खूब समझ में आया कि भगवान बुद्ध की शिक्षा के प्रति सदियों तक किया गया यह प्रचार कितना मिथ्या है, कितना भ्रामक है। शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला? कल्पनाविहीन सत्य के आलंबन द्वारा मर्कट-मन को एकाग्र करा देने वाली समाधि के अभ्यास में क्या दोष है भला? सदा परोक्ष ज्ञान पर निर्भर रहने वाली बुद्धि को स्वानुभूतियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान जगा कर विकार उन्मूलन करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा में प्रतिष्ठित करा देने में क्या दोष है भला? विकारों से विमुक्त हुए, निर्मल हुए, समताभरे चित्त में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के ब्राह्मीभाव जगा कर उसे स्नेह, सौमनस्यता और सद्भावना का जीवन जीने की कला सिखा देने में क्या दोष है भला? इन सद्गुणों की धर्ममयी महत्ता के गुणगान बचपन से सुनता-पढ़ता आया था। धर्म के इसी सैद्धांतिक और कोरे उपदेशात्मक पक्ष का यदि कोई व्यावहारिक अभ्यास कराये, तो यह शिक्षा मायाविनी कैसे हुई भला?

विपश्यना-शिविर को सर्वथा निर्दोष पाकर मन में यह एक इच्छा जाग्रत हुई कि बुद्ध-वाणी को भी पढ़ कर देखा जाय। कहीं उसमें कोई प्रच्छन्न माया न छिपी हो। परंतु ज्यों-ज्यों बुद्ध-वाणी पढ़ता गया, त्यों-त्यों उसकी सर्वलोकहितकारिणी, निश्छल शुद्धता अधिक से अधिक उजागर होती गयी। उन्हीं दिनों एक बार भारत भी आया। यह जांचने के लिए कि यहां के प्रसिद्ध आश्रमों में जो ध्यान सिखाने वाले विभिन्न धर्माचार्य हैं, उनसे मिलूं और यह जानूं कि कहीं मैं किसी गलत रास्ते तो नहीं पड़ गया? किसी भ्रम में तो नहीं उलझ गया? और यदि रास्ता सही है तो जितना सीखा है उससे आगे की अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है? इनसे मिलने पर जो तथ्य उजागर हुए, उनसे तो और अधिक आश्वस्त ही हुआ कि भारत इस कल्याणी विद्या को खो कर अध्यात्म के क्षेत्र में सचमुच निर्धन ही हुआ है।

समय बीतता गया। एक ओर सक्रिय विपश्यना साधना, दूसरी ओर पुरातन मूल बुद्ध-वाणी, दोनों के अभ्यास और अध्ययन से सारी सच्चाई स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली गयी।

धन्य है पड़ौसी ब्रह्मदेश जिसने भारत की इस अनमोल धरोहर को अपने शुद्ध रूप में सुरक्षित रखा। कल्याणी विपश्यना साधना को और उसके सैद्धांतिक पक्ष को उजागर करने वाली मूल बुद्ध-वाणी को, जिन दोनों को ही भारत में हमारे पूर्वजों ने कितनी नासमझी से खो दिया। अब यह खूब समझ में आने लगा कि अत्यंत चतुराई द्वारा सारे देश में ऐसा प्रचार किया गया जिसमें बुद्ध की तो अर्हा और उनकी शिक्षा की भरपूर गर्हा की गयी। यह सोच कर अत्यंत दुःखद आश्चर्य हुआ कि किस प्रकार देश का समस्त बुद्धिशाली वर्ग धीरे-धीरे इस चतुराई और प्रचार का शिकार होता गया और धोखे में आकर अपने देश की पुरातन, सनातन, अनमोल संपदा से हाथ धो बैठा। पर यह तो बीता इतिहास है। अब भी होश करें तो अच्छा।

नित्य नियमित साधना करने के अतिरिक्त, यदि विदेश-यात्रा पर न निकल गया होऊं तो प्रत्येक रविवार को रंगून में प्रातः सात बजे पू. गुरुदेव के सान्निध्य में सामूहिक साधना और वर्ष में कम से कम एक बार दस दिन का शिविर और कभी लंबा शिविर भी लेने के कारण विपश्यना-प्रज्ञा पुष्ट होती गयी, मानव-जीवन की सफलीभूत सार्थकता प्रत्यक्ष अनुभूत होती गयी। काया और चित्त का सारा एएंद्रिय क्षेत्र और उसका अनित्य, दुःख और अनात्मधर्मा स्वभाव स्पष्टतया अनुभूति पर उतरने लगा। हाथ पर रखे आंवले की भांति सारी सच्चाई स्पष्ट होती गयी। सामान्य भंग ज्ञान की अवस्था जो कि प्रथम शिविर में ही अनुभव पर उतर गयी थी, वही यह भ्रांति उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त थी कि यही नित्य, शाश्वत, ध्रुव चैतन्य अवस्था है, जबकि वह महज दैहिक और चैतसिक अनुभूति ही थी जो कि स्पष्ट ही उत्पाद-व्यय स्वभाव वाली थी। आगे चल कर जब उससे भी अधिक सूक्ष्म अवस्थाएं प्रकट हुइर् जहां प्रभूत शांति, प्रश्रब्धि और असीम आनंद की अनुभूति हुई, तब लंबे यात्रा-पथ की इस बीच की धर्मशाला को नित्य, शाश्वत, ध्रुव और परम सुख मान कर इस नयी भ्रामक देहात्म बुद्धि में कहीं अटका न रह जाऊं, इसलिए इस अवस्था पर और अधिक सजग हो कर अनुभव करना आवश्यक बताया गया –यह जान लेने के लिए कि यह अतींद्रिय अवस्था है या इंद्रियातीत? इंद्रियातीत हो तो उस अवस्था में सारी इंद्रियां निरुद्ध हो जाती हैं और काम करना बंद कर देती हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह अभी एएंद्रिय अनुभूति ही है। इसके प्रति बहुत सजग रहने से इस अत्यंत सूक्ष्म अवस्था का भी उत्पाद-व्यय अनुभव पर उतर आया। अन्यथा यही अवस्था "मैं, मेरी और मेरी नित्य, शाश्वत, ध्रुव आत्मा है", ऐसी भ्रामक देहात्म बुद्धि से बांध लेती। इसीलिए इस अवस्था की वास्तविकता के प्रति अत्यंत सजग रहना अनिवार्य था। यों सतत सजग रहते-रहते विमुक्तिमार्ग की विभिन्न अनुभूतियों में से गुजरते-गुजरते सारी शंकाएं अपने आप दूर होती चली गयीं। हर कदम पर धर्म का आशुफलदायक शुद्ध स्वरूप प्रकट होता चला गया। स्वभावतः मानस कृतज्ञता के भावों से अधिकाधिक ओतप्रोत होता चला गया। कृतज्ञता उन भगवान गौतम बुद्ध के प्रति जिन्होंने सदियों से खोयी हुई यह चित्तविशोधिनी, मुक्तिदायिनी विपश्यना-विद्या अपने अथक परिश्रम द्वारा खोज निकाली और इसके द्वारा केवल स्वयं ही मुक्त हो कर नहीं रह गये बल्कि जीवनभर अत्यंत करुण चित्त से, बिना भेद-भाव के इसे सभी लोगों को मुक्तहस्त से बांटते रहे। असीम कृतज्ञता प्रथमतः भारत में और तत्पश्चात ब्रह्मदेश में संत-आचार्यों की उस अक्षुण्ण गुरु-शिष्य परंपरा के प्रति, जिसने इस विद्या को अपने मौलिक शुद्ध रूप में कायम रखा। कृतज्ञता अपने धर्म-पिता परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के प्रति जिन्होंने यह विद्या मुझे इतने करुणभाव से सिखायी और मानस में उठती हुई सारी शंकाओं का समाधान करते हुए शुद्ध धर्म के सैद्धांतिक और व्यावहारिक उभय पक्षों में परिपुष्ट किया।

विपश्यना-पथ पर चलते हुए पिछले चालीस वर्षों के नये जीवन का सिंहावलोकन करता हूं तो मन असीम संतुष्टि और प्रसन्नता से भर उठता है। इन चालीस वर्षों में लौकिक क्षेत्र में कितने उत्थान-पतन आये; कितने उतार-चढ़ाव आये; कितने बसंत-पतझड़ आये; कितने वार-भाटे आये; परंतु विपश्यना के दैनिक अभ्यास ने हर अवस्था में समता पुष्ट करने का ही काम किया। पू. गुरुदेव की महती कृपा के कारण जीवनपथ पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ते रहने के लिए विपश्यना के धर्मबल का ऐसा अद्भुत आहार मिला, ऐसा पौष्टिक पाथेय मिला और अब भी मिलता ही जा रहा है, जिससे कि जीवन धन्य हो उठा। ऐसा पाथेय जिससे अपना भी कल्याण ही कल्याण, साथ-साथ अन्य अनेकों का भी कल्याण ही कल्याण। इसे देख कर पू. गुरुदेव के प्रति बार-बार मन कृतज्ञताभरे पुलक-रोमांच से तरंगित होता रहता है। पच्चीस शताब्दियों पूर्व महाकारुणिक भगवान बुद्ध द्वारा प्रवहमान की गयी और इस युग में परम पू. गुरुदेव द्वारा पुनः गतिमान की गयी यह धर्मगंगा सदियों तक भवसंतप्त लोगों को भवमुक्त करती रहे, दुःखमुक्त करती रहे, अनेकों का मंगल करती रहे, अनेकों का कल्याण करती रहे, यही कल्याण-कामना बार-बार मन में उद्वेलित होती रहती है।

कल्याणमित्र,
स. ना. गो.

सफल साधक

श्री ब्रजेंद्र प्रसाद पालीवाल अत्यंत सरल और सुलझे हुए व्यक्तित्व के धनी अन्य किसी साधना पद्धति के अनुभवी आचार्य थे। विपश्यना का पहला शिविर लेते ही उन्हें इस विधि की वैज्ञानिक सार्थकता और विकार-विमुक्ति की आशुफलदायिनी विशेषता स्पष्ट समझ में आ गयी और विपश्यना का यह रास्ता अपनाया तो फिर पीछे मुड़ कर इधर-उधर झांक कर भी नहीं देखा। वे हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी, पालि और संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान थे। उनका अध्ययन अत्यंत गहन-गंभीर था। अनेक प्रकार की साधनाओं में से गुजर कर किसी एक साधना के प्रति निष्ठावान होकर उसमें प्रगति करते-करते उसके आचार्य बन गये थे और उसका प्रचार-प्रसार करने लगे थे। परंतु विपश्यना साधना के पहले शिविर में ही इस विद्या की महत्ता समझ में आ गयी। वे पहले जिस साधना को सिखाते रहे थे, उसकी निंदा न करते हुए भी इसकी श्रेष्ठता को समझ कर इस पथ पर गंभीरतापूर्वक आगे बढ़ने लगे। अनेक दस दिवसीय शिविर, सतिपट्ठान के शिविर तथा २०, ३० और ४५ दिनों के शिविरों में से गुजर कर जो लाभ हुआ उससे वे इस विद्या के प्रति अत्यधिक निष्ठावान बने।

पालि भाषा में मूल बुद्धवाणी और अर्थकथाओं (भाष्यों) का गंभीर अध्ययन करके उन्होंने इस वैज्ञानिक विधि के सैद्धांतिक पक्ष को भी बहुत गहराई से समझा। इस कारण भी उनकी आस्था अधिक प्रबल हुई। उन्होंने पहला वि. शिविर पू. गुरुजी के सान्निध्य में इगतपुरी में जनवरी १९७९ में किया। उनकी प्रगति और समझ को देख कर ही पू. गुरुजी ने उन्हें १९८३ में सहायक आचार्य नियुक्त किया और बाद में वे १९८६ में वरिष्ठ स. आ. नियुक्त हुए। जीवन के अंतिम दिनों में वृद्धावस्था के कारण शरीर से अस्वस्थ हो चले थे परंतु मानसिक स्तर पर सदा स्वस्थ और प्रसन्न ही रहे। वे अपने पुत्रों के साथ आगरा बहुत कम ही रहते, क्योंकि उन्होंने अपना सारा जीवन धर्मसेवा के लिए अर्पित कर दिया था। अधिकतर इगतपुरी में ही रहते थे परंतु अंतिम समय वे जयपुर के विपश्यना केंद्र में रहे और अपनी मानसिक स्वस्थता के साथ लोगों को धर्मशिक्षा देते रहे।

यद्यपि उनकी देखभाल करनेवाले धर्मसेवकों ने उनकी सेवा करके अपने आप को धन्य माना, परंतु उनकी आंतरिक इच्छा यही रही कि किसी की सेवा न लेनी पड़े तो अच्छा। और निठल्ला बैठ कर वे केंद्र पर भारस्वरूप भी नहीं रहना चाहते थे। अतः जब शारीरिक शक्ति बहुत कमजोर हो गयी तो अपने घर आगरा सूचना भिजवायी कि उन्हें ले जांय। परंतु संयोग ऐसा कि उनके परिवार के सदस्यों के टैक्सी लेकर पहुँचने के चंद क्षणों पूर्व ही वे शरीर त्याग चुके थे याने कि सी की विशेष सेवा न लेने का उनका यह संकल्प भी सफलीभूत हुआ। उन्होंने अंतिम क्षण तक सजग और सचेत रह कर प्राण छोड़े। मरणांतक पीड़ा का किसी को अहसास तक नहीं होने दिया। धन्य है ऐसा कर्मठ साधक और उसे पाकर धन्य हुई विपश्यना साधना! ऐसी धन्यता हम सब को प्राप्त हो! [सं.]